

प्रांतीय स्वशासन के अन्तर्गत भारतीय शिक्षा

अजय कुमार*

डॉ० राधा गोविन्द सिंह*

अंग्रेज भारत में अपनी राजनीतिक सत्ता स्थापित किए रहें, सभी शैक्षिक विवादों में राजनीतिक अभिनति रहती थी। भारत में ब्रिटिश शासन को उचित ठहराने के लिए अंग्रेजों ने अपने योगदान के कुछ पहलुओं के बारे में अत्यधिक ऊँची धारणा बना रखी थी। वे अपनी उपलब्धियों की कमियों के लिए ऐसे कारणों को जिम्मेवार बताते थे, जिन्हें दूर करना उनके वश की बात नहीं थी। प्रतिकूल आलोचना होने पर उनका सामान्य उत्तर यह होता था कि इस आलोचना में ऐसे काम पर जोर दिया गया है, जिसे छोड़ दिया गया था जिसे अब भी किया जाना बाकी है, और इसके साथ ही इस बात की उपेक्षा कर दी गई है कि क्या काम पूरा हो चुका है, और कितना काम अच्छी तरह से किया गया है, किन साधनों में किया गया है, किन कठिनाईयों के बीच किया गया है। दूसरी ओर भारतीय लोग भारत की ब्रिटिश शिक्षा नीति की असफलताओं का उल्लेख करते थे। वे भारत में जो शैक्षिक प्रगति हुई थी उसकी रतार को स्वयं इंग्लैंड अथवा स्वाधीन पूर्वी देशों (जैसे जापान या तुर्की) अथवा अन्य राष्ट्रों के पराश्रित राज्यों (जैसे फिलिपाइंस) में हुई शैक्षिक प्रगति की रतार से तुलना करते थे। इसके साथ ही उनका कहना था कि भारत में आधुनिक शिक्षा राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में असफल रही है। राजनीतिक दासता अथवा आर्थिक शोषण से जो अनिष्ट हुए हैं उसकी क्षतिपूर्ति आधुनिक शिक्षा में होने वाले थोड़े से लाभों से नहीं हो सकती है। इन विचारों में राजनीतिक अभिनति स्वतः स्पष्ट है। अब चूँकि इस अभिनति का मुख्य कारण समाप्त हो चुका है अतः इस बात की संभावना स्पष्ट दिखाई देती है कि अब शैक्षिक इतिहास का निष्पक्ष एवं अधिक निर्णायक मूल्यांकन किया जा सकता है। आज अंग्रेज अपनी गलतियों को स्वीकार करने के लिए उसी प्रकार तैयार हैं जिस प्रकार कोई भारतीय उस बहुमूल्य देन को स्वीकार करने के लिए तैयार है जो इंग्लैंड ने भारतीय जीवन और विचारधारा को दी है। भूमिकाओं में यह परिवर्तन हो जाने के साथ ही हम अतीत को अपेक्षा अब सत्य के अधिक निकट आ गए हैं।

*शोध छात्र इतिहास विभाग वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा (बिहार)

*शोध निदेशक एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग महिला कॉलेज, डालमियानगर, डेहरी ऑन-सोन वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

भारत में ब्रिटिश शैक्षिक प्रशासन के विरुद्ध मुख्य आरोप यह है कि उसने देश के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का निर्माण नहीं किया। इस आरोप के बारे में कोई मतभेद नहीं है। जब 1921 में भारतीय शिक्षा के संबंध में अंग्रेजों का उत्तरदायित्व बहुत कुछ समाप्त हो गया उस समय सरकारी पद्धति ने राष्ट्रीय शिक्षा के संप्रत्यय को स्वीकार तक नहीं किया था। परन्तु यदि तर्क करने के लिए यह मान भी लें कि जनता को शिक्षा के लिए अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी सदा ही उत्तरदायी रही तो अधिक से अधिक उन्हें इस बात का श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने देश के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का नामस प्रत्यक्षीकरण करके उसे शैक्षिक विकास की युद्धोत्तर योजना के रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। परन्तु यह योजना संतोषजनक नहीं है। यदि यह योजना संतोषजनक होती तो भी यह आरोप रहता कि 15 अगस्त, 1947 को इस योजना पर कोई कार्रवाई नहीं की गई।

1904 में कर्जन ने शैक्षिक विषयों के बारे में पहला भारी तूफान खड़ा किया था और 1937 में भारतीयों को शिक्षा पर लगभग पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हुआ था। इन दोनों के बीच की कालावधि में इस असफलता के तथ्यों के बारे में विवाद चलता रहा। सरकारी इतिहासकार एक चरम सीमा तक पहुँच गए और ब्रिटिश शिक्षा नीति के समर्थन में बेसिर-पैर की बातें कहने लगे। राष्ट्रवादी रूसरी चरम सीमा पर पहुँचे और उन्होंने यह घोषणा कर दी कि ब्रिटिश शासन ने भारत को सांस्कृतिक एवं अध्यात्मिक रूप से बर्बाद किया है। परन्तु ये चरम सीमाएँ अब अतीत की घटनाएँ हो चुकी हैं। असफलता के तथ्य को अब बेहिचक स्वीकार कर लिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप शिक्षाविदों को ध्यान इसी असफलता के कारणों का पता लगाने की ओर गा हुआ था ताकि अतीत में की गई गलतियों से भविष्य में बचा जा सके। प्रस्तुत पुस्तक में डेढ़ शताब्दी के शैक्षिक इतिहास के सर्वेक्षण से पता चलता है कि अंग्रेज भारत में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का निर्माण नहीं कर सका। राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति किसी लक्ष्य को प्राप्त करने का एक साधन होती है। स्वयं राष्ट्र से जिस प्रकार की भूमिका निभाने की कामना की जाती है, राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति को उसी अनुसार गठित किया जा सकता है। ब्रिटिश सत्ता का स्वरूप साम्राज्यवादी था अतः वह आत्मसम्मानी एवं स्वतंत्र भारत का मानक प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सके। मिशनरियों ने भारत को एक ऐसे स्थल के रूप में देखा जहाँ लोगों को ईसाई बनाया जा सकता था। कम्पनी सामान्यतः उसे अपने वाणिज्य और मुनाफों के लिए एक क्षेत्र समझती थी। 1854 के आज्ञापत्र में उसका उल्लेख कच्चे माल के उत्पादक अथवा ब्रिटिश उद्योगों के तैयार माल के क्रेता के रूप में किया गया था कर्जन उसे ब्रिटिश प्रशासक के सभ्यता प्रसारक प्रभाव के लिए एक शाश्वत क्षेत्र माना। दूसरे विश्वयुद्ध के अंत तक सरकारी नीति की सभी घोषणाओं

की यह विशेषता रही कि उनमें भारत का एक ऐसे प्रभुत्व सम्पन्न स्वाधीन राष्ट्र के रूप में मानक प्रत्यक्षीकरण करने से आँख मूँदकर इन्कार किया जाता रहा जिसे सार्वभौम संस्कृति को अपनी अद्वितीय एवं बहुमूल्य देन देती है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के साम्राज्यवादी राजनीतिक दर्शन में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के लिए कोई स्थान नहीं है।

ब्रिटिश शैक्षिक प्रशासन की असफलता का एक अन्य कारण यह था कि वह पूर्व और पश्चिम के बीच उचित मेल स्थापित करने में असमर्थ रहा। मिशनरी यह कार्य इसलिए नहीं कर सके कि वे धर्मांतरण पर जोर देते थे, इसाई धर्म एवं पाश्चात्य संस्कृति को परस्पर अवियोज्य समझते थे और प्राचीन भारतीय परम्पराओं एवं संस्कृति को आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। अंग्रेज कर्मचारी यह कार्य कर सकते थे परन्तु उनमें से बहुत कम लोगों ने इस कदम को वांछनीय समझा और उससे भी कम लोगों ने इस कदम को उठाने की आवश्यकता महसूस की। निःसंदेह कुछ लोग प्राच्य संस्कृति के भारी प्रशंसक थे। परन्तु अनेक बार वे अपना औचित्य बोध खो बैठे और उन्होंने अतीत के उसी प्रकार गुण गए जिस प्रकार भारतीय उग्र राष्ट्रवादी गाते थे। अतः इन प्राच्यवादियों ने यह कार्य आरंभ नहीं किया। शिक्षा नीतियों को अधिकांशतः भारी संख्या में ऐसे अंग्रेज कर्मचारी तैयार करते थे जो लार्ड किलिंग की भाँति इस बात में विश्वास रखते थे कि पूर्व, पूर्व है और पश्चिम, पश्चिम, ये दोनों कभी नहीं मिलेंगे। विक्टोरियन असामाजिकता और उसकी संरक्षणात्मक अभिवृत्ति इस संबंध में विशेष रूप से बुरी थी। विक्टोरियन असामाजिकता भारतीयों को कानूनविहीन अभिजात मानती थी, बाबू अंग्रेजी की मजाक उड़ाती थी, शिक्षित व्यक्तियों को निष्ठावान् और निष्ठाहीन वर्गीकृत करने का प्रयत्न करती थी, यूरोपीय क्लबों में भारतीयों के प्रवेश पर रोक लगाती थी और सामान्यतः संकोच और अलगाव का ऐसा वातावरण पैदा करती थी जिसमें संस्कृतियों का मेल होना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया। इन अभिवृत्तियों के कारण जो प्रजातीय वैर भाव उत्पन्न हुआ वह राजनीतिक संघर्ष के वातावरण में और भी अधिक बढ़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश राष्ट्रवादी भारतीयों में पाश्चात्य संस्कृति के प्रति ग्राही अभिवृत्ति होने के बजाय अवज्ञा करने और चुनौती देने की अभिवृत्ति पैदा हो गई। कुल मिलाकर हय कहा जा सकता है कि विचाराधीन काल में पूर्व और पश्चिम का मेल कराने के लिए योजनाबद्ध और बड़े पैमाने पर सरकारी प्रयास नहीं किया गया। कुछ व्यक्तियों ने अपने जीवन में दोनों संस्कृतियों का सुन्दर सम्मिश्रण करके दिखाया और वे अपने चारों ओर एक विलक्षण माधुर्य एवं प्रकाश फैलाते रहे। कुछ संस्थाओं ने इस कार्य को अपने शैक्षिक कार्यक्रमों के द्वारा करने का प्रयत्न किया। ये प्रयोग सदैव

गैर सरकारी तौर पर हुए और इन्होंने उपर्युक्त संप्रत्यय को जीवित राने में सहायता दी परन्तु सरकारी शिक्षा पद्धति द्वारा इस आदर्श का मान्यता न दिए जाने से जो हानि हुई थी उसकी क्षतिपूर्ति इन प्रयोगों में नहीं हुई।

ब्रिटिश शैक्षिक प्रशासन की असफलता का महत्वपूर्ण कारण यह है कि उसने शिक्षा के लिए समय-समय पर जो लक्ष्य निर्धारित किए वे अपर्याप्त थे। वारेन् हेस्टिंग्स और डंकन अधिकांशतः समाज के उन वर्गों की राजनीतिक सुलह चाहते थे जो अंग्रेजों की विजय के परिणामस्वरूप राजनीतिक सत्ता एवं प्रभाव से वंचित हो गए थे। 1813 के चार्टर अधिनियम में यह कहा गया था कि प्राच्य साहित्यों का पुनरुत्थान एवं सुधार किया जाए और विद्वान मूल निवासियों को प्रोत्साहन दिया जाए। 1854 के आज़ापात्र में यूरोप के उन्नत कला, विज्ञान, दर्शन एवं साहित्य के प्रसार की बात कही गई थी। 1882 के आयोग ने इस विषय पर बिल्कुल भी विचार नहीं किया। कर्जन ने भारतीय प्रज्ञा के अंतर्भूत दोषों को दूर करने की बात कही। 1913 के संकाय ने चरित्र निर्माण को शिक्षा नीति का मुख्य उद्देश्य घोषित कर दिया। भारतीयों को सरकारी विभागों में नौकरी के लिए प्रशिक्षित करने का उपयोगितावादी उद्देश्य आरंभिक काल से ही सामने रहा था, यद्यपि उस पर अलग-अलग समय पर अलग-अलग मात्रा में जोर दिया गया। स्वशासन के लिए भारतीयों को प्रशिक्षित करने का परार्थवादी राग भी यदा-कदा अलापा जाता रहा। मैकाले और मेटकॉफ उन सबसे पहले व्यक्तियों में से थे जिन्होंने गर्व और विश्वास के साथ स्वशासन की बात कही थी। ग्रांट को इसका पक्का पता नहीं था, यद्यपि उसे इस बात से खेद नहीं होता। परन्तु औसत कर्मचारी की स्वराज की उस संभावित मांग का डर था जो भारत पेश कर सकता था कि इस अनिष्टकारी दिन को यथासंभव टाला जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वशासन के लिए प्रशिक्षण देना ब्रिटिश शिक्षा नीति का एक सुचिंतित उद्देश्य नहीं वरन् इस नीति का एक उप परिणाम ही रहा। निःसंदेह यह बात स्पष्ट है कि प्रत्येक उद्देश्य का अपना उचित महत्व है। परन्तु उपर्युक्त उद्देश्य से अकेले अथवा मिलकर भी उन संबद्ध एवं विशद उद्देश्यों को प्रस्तुत नहीं करते जो भारत की राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के होने चाहिए। अब यह सर्वाधिक रूप से स्वीकार किया जाता है कि जब तक कोई शिक्षा पद्धति उस परिपूर्ण जीवन के स्पष्ट ज्ञान पर आधारित नहीं होगी जिसे प्रदान करने का उसे प्रयत्न करना चाहिए तब तक विधान, संहिताओं, ज्ञापनों, पाठ्य यर्थाओं और परीक्षाओं के बारे में की जानेवाली चर्चाओं से कोई लाभ नहीं होगा। यद्यपि अनगिनत कर्मचारियों, समितियों, आयोगों और प्रतिवेदनों ने भारत में आधुनिक शिक्षा की अनेक समस्याओं पर बहुत विस्तार से चर्चा की है तथापि सम्पूर्ण जीवन के प्रसंग में शिक्षा के उद्देश्यों पर चर्चा नहीं की गई थी। इस दिशा

में पहला प्रयास भारतीय विश्वविद्यालय आयोग के प्रतिवेदन (1949) में किया गया है जो विश्वविद्यालय शिक्षा के उद्देश्यों के बारे में है।

यह ब्रिटिश शैक्षिक प्रशासन की एक कमजोरी थी कि उसने पर्याप्त उद्देश्यों का निरूपण नहीं किया। इस कमजोरी का जो हानिकारक प्रभाव पड़ा उसमें कतिपय गलत कार्यविधियों के अपनाए जाने से और भी वृद्धि हो गई। इनमें सर्वप्रथम गलत कदम यह था कि देशी शिक्षा पद्धति की उपेक्षा की गयी जिसके परिणामस्वरूप वह 1900 के लगभग प्रायः पूर्णतया लुप्त हो गयी। दूसरा गलत कदम यह था कि अंग्रेजी आदर्शों पर अत्यधिक निर्भर रहा गया और इंग्लैंड में विकसित सभी प्रकार की योजनाओं एवं विचारों की तुच्छ नकल करके उसे भारत पर थोप देने का प्रयास किया गया। इंग्लैंड नगरीय, औद्योगिक और धनाढ्य देश है परन्तु भारत ग्राम्य खेतिहर और निर्धन है। दोनों देशों की सामाजिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि में जो विरोध पाया जाता है। उसके फलस्वरूप इंग्लैंड भारत के लिए एक अच्छा आदर्श नहीं बन सकता है। परन्तु अंग्रेज प्रशासक इस बात को मान बैठे थे कि भारत को जिस आदर्श की कभी आवश्यकता पड़ सकती है, वह काफी संशोधनों के बाद इंग्लैंड का ही आदर्श हो सकता है। इस धारणा के परिणामस्वरूप उन्होंने देशी परम्पराओं की तथा संसार के उन प्रगतिशील देशों के नमूनों की उपेक्षा की जिनके सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचे भारत के सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचेके अधिक निकट थे। वास्तव में यही गलत है कि भारतीय शिक्षा निरन्तर सिंड्रेला (एक उपेक्षित नारी) की भांति रही। उसे इंग्लैंड शिक्षा पद्धति के आँचल से बांध दिया गया था। यर्थात्तः यही हमारी भारतीय शिक्षा पद्धति की त्रासदी रही है अधोमुखी निस्पंदन स्वीकार किया जाना भी एक गलती थी क्योंकि इसमें सार्वजनिक शिक्षा को अस्थायी रूप से धक्का लगा। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक बातें ऐसी थी जिन्हें इतिहास ने अविवेकपूर्ण सिद्ध कर दिया है जैसे अंग्रेजी का शिक्षा माध्यम के रूप में व्यापक प्रयोग, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी चरणों में अंग्रेजी के अध्यापन पर जोर, यह विश्वास कि अंग्रेजी समस्त देश की राष्ट्रभाषा बनेगी और बनी रहेगी। और इसके परिणामस्वरूप आधुनिक भारतीय भाषाओं का उपेक्षा किया जाना। आसानी से इस प्रकार के अन्य बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। इन सबसे यह पता लगता है कि स्थिति का सही तौर से मानस प्रत्यक्षीकरण नहीं किया गया और चीजों को भारतीय दृष्टिकोण से नहीं देखा गया। रालिंसन का इस निष्कर्ष पर पहुंचना बिल्कुल ठीक है कि भारत में ब्रिटिश शासन की सफलता, जहां तक असफलता थी, केवल कल्पनाशक्ति की कमी के कारण हुई थी। शिक्षा का आयोजन शून्य में नहीं की जा सकती है और शैक्षिक प्रगति सदैव राष्ट्र की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक उन्नति की मोटे तौर से

आनुपातिक होती है। ब्रिटिश शासन के कुछ पहलू इस प्रकार की उन्नति की मोटे तौर से आनुपातिक होती है। ब्रिटिश शासन के कुछ पहलू इस प्रकार उन्नति के वैरभावी थे। उदाहरण के लिए धार्मिक तटस्थता के सिद्धांत का अर्थ यह लगाया गया कि समाज सुधार से संबंधित किसी भी विषय में हस्तक्षेप न किया जाए। इसका परिणाम यह हुआ कि अस्पृश्यता अथवा बालविवाह जैसी बुराईयों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए राजकीय सहायता तथा दण्ड विधान की मदद नहीं मिल सकी। अतः इस विषय में ब्रिटिश शासन की उपेक्षा कुछ देशी रियासतों में अधिक प्रगति हुई। परन्तु अंग्रेज कर्मचारी को उसकी तटस्थ अभिवृत्ति के लिए दोष दे सकना कठिन है। वह संभवतः इससे बेहतर कुछ नहीं कर सकता था। ऐसा विशेष इसलिए था कि उसके लिए राजनीतिक रूप से यह अभीचीन था कि बरें का छत्ता न छेड़ा जाए। परन्तु यह बात भी स्वीकार की जानी चाहिए कि सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का सिद्धांत वास्तव में एक तटस्थ निर्णय नहीं है। इससे कट्टरपंथ की ताकतें सारभूत रूप से मजबूत होती हैं और उस हद तक इससे सच्ची शिक्षा की प्रगति में बाधा पड़ती है। इसी प्रकार, भारत की राजनीतिक पराधीनता के कारण भी शैक्षिक प्रगति में कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई। राष्ट्रीय एकता की सुदृढ़ भावना पैदा करने के लिए भारत में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रथम उद्देश्य यह होना चाहिए था कि सभी भिन्न-भिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और जातियों को पब्लिक स्कूलों की एक समान लोकतंत्रीय प्रणाली के अंतर्गत लाया जाए। परन्तु राजनीतिक रूप से यह वांछनीय नहीं था कि इस प्रकार की एकता पैदा हो। अतः साम्प्रदायिक एवं धार्मिक एकता पैदा करने के लिए कोई योजनाबद्ध और जोरदार प्रयास नहीं किए गए बल्कि कभी-कभी तो फूट डालकर शासन करने का खेल खूब खुलकर खेला गया और दो बड़ी जातियों, हिन्दुओं एवं मुसलमानों की शिक्षा को एक दूसरे से पृथक्-पृथक् बढ़ने दिया गया। तीसरी बात यह है कि ब्रिटिश शासन के आर्थिक पहलू असंतोषजनक थे। अब इस बात को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि पिछले 150 वर्षों में लोगों की निर्धनता बढ़ी थी और इस प्रकार की बिगड़ी हुई आर्थिक पृष्ठभूमि में कोई शैक्षिक प्रगति संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में ब्रिटिश शासन भारतीय जीवन के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पक्ष का विकास न तो कर सकता था, न उसने किया। चूंकि राष्ट्रीय शिक्षा जनता के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन के पुनरुज्जीवन का कार्यक्रम होता है, अतः ब्रिटिश प्रशासन भारत के लिए वास्तविक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का विकास नहीं कर सका।

ब्रिटिश शैक्षिक प्रशासन की असफलता का सबसे प्रबल कारण था कि वह योजना बनाने के लिए आवश्यक कर्मचारी जुटाने और भारत में एक राष्ट्रीय शिक्षा

पद्धति की व्यवस्था करने में असमर्थ रहे। निश्चय ही यह कार्य बहुत भारी और कठिन था और यदि इस कार्य का आंशिक रूप से सम्पन्न किया जाता तो उसके लिए भी इंग्लैंड के बहुत से अच्छे शिक्षाविदों की आजीवन सेवा की आवश्यकता हुई होती। परन्तु इंग्लैंड ने प्रथम श्रेणी के बहुत बड़े शिक्षाविदों को भारत भोजा था परन्तु उनका योगदान इसलिए सीमित रह गया था कि स्वयं मिशनरी उद्यम भी भारतीय शिक्षा में एक लाभप्रद किन्तु गौण भूमिका ही अदा कर सका। सरकारी क्षेत्र भी पूरी तरह उभरे नहीं थे। पंजाब के आर्नलु अथवा बम्बई के सर अलेक्जेंडर ग्रॉट तथा कुछ अन्य व्यक्तियों को सरकारी लोगों के बीच बहुत सम्मानप्रद स्थान प्राप्त था। जिन व्यक्तियों का शिक्षा विभाग में कोई संबंध नहीं था परन्तु, जिन्होंने भारतीय शिक्षा के लिए अच्छा कार्य किया उनमें सबसे महान व्यक्ति सर माइकेल सैलडर थे। परन्तु 1854 और 1924 के बीच शिक्षा विभागों के यूरोपीय अफसरों का जो अंतहीन प्रवाह भारत में आया उसकी तुलना में इस प्रकार के महापुरुषों की संख्या नगण्य थी। सर अलेक्जेंडर ग्रॉट का यह कहना मूल रूप से सही था कि शिक्षा विभाग में सेवा की शर्तें इस प्रकार की नहीं थी कि वे अच्छे अधिकारियों को आकर्षित कर सकती। यहाँ तक कि 1896 में भारतीय शिक्षा सेवा का सर्जन होने से भी स्थित में सुधार हुआ। जब हम यह विचार करते हैं कि इंग्लैंड ने कितनी ऊँची सैनिक प्रतिभा भारत भेजी थी और भारतीय सेवा अथवा न्यायपालिका के इतिहास गगन में कितने महापुरुष आकाशगंगा के नक्षत्रों के रूप में जगमगा रहे हैं, और कितने महान इंजिनियरों, डाक्टरों और सर्वेक्षकों ने भारत में और भरत के लिए कार्य किया था तो भारतीय शिक्षा विभागों के औसत यूरोपीय कर्मचारी के लघुव्यक्तित्व को देखकर मन में चोट पहुँचती है। आखिरकार, प्रशासन की कोई भी पद्धति अपने कर्मचारी के व्यक्तित्व में ऊँची नहीं उठ सकती है। शिक्षा विभाग के जो औसत कर्मचारी भारत आए उनकी और दृष्टिपात करने पर गोखले की इस बात पर आश्चर्य नहीं होता है कि भारतीय शिक्षा विभाग विशेषज्ञों के संकीर्ण, धर्मान्ध और सरस्ते शासन का मूर्त रूप था। ब्रिटिश भारतीय प्रशासन के लिए शिक्षा कभी सर्वाधिक महत्व का विषय नहीं रही केवल उस समय को छोड़कर जब शिक्षा के राजनीतिक रूप से कष्टकर परिणाम निकलते हों, कभी शिक्षा को परम पूर्णता नहीं दी गई। यहाँ तक कि 1921 में भी शिकायत की गई की अनुभवी सचिव सबेरे को अपनी शक्ति को वित्तीय तथा न्यायिक फाईलों में व्यय कर देने के बाद सामान्यतः अपने शैक्षिक संकल्प को डूबते सूरज के साथ तैयार करने थे। शिक्षाविदों को यह ध्यान दिलाया गया कि उनका कार्य है कि वे चरित्र निर्माण करे तथा अच्छे एवं दक्ष नागरिक तैयार करें, उनकी कार्यविधियों, अर्थव्यवस्था और जनमत द्वारा विहित सीमाओं के अंदर रहते हुए अच्छी एवं प्रभावी होनी चाहिए।

इन व्यंग्यपूर्ण टिप्पणियों से यह पता चलता है कि विभागीय अधिकारियों को सरकार की उदासीनता और वित्त विभागों की निष्ठुरता के विरुद्ध किस प्रकार संघर्ष करना पड़ा था। समग्र इतिहास में प्रमुख रूप से यही बात देखने को मिलती है। शैक्षिक पुनर्निर्माण संबंधी अभियान के लिए इस बात की आवश्यकता थी कि सरकार और सभी विभागों के कर्मचारी यूरोपीय होते थे, केवल उन विरले अवसरों को छोड़कर जब रिपन और कर्जन जैसे वायसराय बागडोर सम्भाले हुए थे, कभी यह समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। जब शिक्षा की भारतीय नियंत्रण में दे दिया गया तो राजस्व जैसे अन्य महत्वपूर्ण विभागों से और भी कम सहयोग मिला। भारत के पास जो शैक्षिक अधिकारी थे, यदि उनकी ओर सरकार ने अधिक ध्यान दिया होता अथवा उन्हें राजस्व और वित्त विभागों से अधिक उत्साहपूर्ण सहयोग मिला होता तो भी अपेक्षाकृत अच्छे परिणाम निकल सकते थे। परन्तु ऐसा होना नहीं था।

संदर्भ ग्रंथ—सूची :-

1. एडम विलियम, श्री रिपोर्ट ऑन दि स्टेट ऑफ एजुकेशन इन बंगाल एण्ड बिहार, कलकत्ता - 1868
2. अग्रवाल, जे0 सी0 लैण्डमार्क इन दि हिस्ट्री ऑफ मोडर्न इण्डियन एजुकेशन, नई दिल्ली, 1984
3. बसु0 ए0 एन0 एजुकेशन इन मोडर्न इण्डिया, 1947
4. बसु अर्पणा, दी ग्रोथ ऑफ एजुकेशन एण्ड पोलिटिकल डेवलपमेन्ट इन इंडिया, 1898-1920, दिल्ली, 1974
5. रिपोर्ट ऑफ दि इण्डियन यूनिभरसिटिज कमीशन, 1902
6. इण्डियन एजुकेशन पॉलिसी, 11 मार्च, 1904

